31_govind_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 398

श्रमण चिंतन में विश्व-दृष्टि और वैदिक परम्परा

गोविंद चंद्र पाण्डे

अनुवाद : नरेश गोस्वामी

श्रमण पंथ वेदों की सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। वे ईश्वर को जगत का रचयिता और भाग्य-विधाता भी नहीं मानते थे। इसलिए परवर्ती काल में श्रमण दर्शन को नास्तिक या उच्छेदवादी कहा जाने लगा। लेकिन अपने मूल रूप में नास्तिक का प्रयोग केवल भौतिकतावादियों के लिए ही किया जाता था। पाणिनि एक प्रसिद्ध सूत्र में कहते हैं 'अस्ति नास्ति दिष्टमं मति:' (4. 4. 60)। पतञ्जलि आस्तिक, नास्तिक तथा दैष्टिक जैसे शब्दों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इनके अर्थ क्रमश: अस्तित्व को मानने वाले, अस्तित्व को नकारने वाले और प्रारब्ध के अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिए।[1] *प्रदीप* और *काशिका*[2] में इसकी

[1] *महाभाष्य,* खण्ड 4 : 749.
[2] *काशिका,* खण्ड 3 : 765.

31_govind_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 399

व्याख्या यह की गयी है कि यहाँ अस्तित्व का अभिप्राय एक अन्य जगत या मरणोपरांत जीवन से है : 'परलोकोस्तीति मतिरर्यस्य स आस्तिक: तद्विपरीतो नास्तिक:'। हालाँकि *महाभाष्य* तथा *काशिका* में आस्तिक की व्याख्या अलग ढंग से की गयी है। लेकिन उसका अंतिम अर्थ यहाँ भी कुछ ऐसा ही स्थिर होता है। *पदमञ्जरी* में नास्तिक को लौकायतिक का पर्याय बताया गया है, तथा दिष्ट को दैव या प्रारब्ध के रूप में व्याख्यायित किया गया है। इस प्रकार दैष्टिक का अर्थ प्रारब्धवादी हो जाता है। आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक मस्करी गोशाल के विषय में पाणिनि का एक सूत्र है : 'मस्कर मस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयो: (6.1.154)'। इसी तरह *महाभाष्य* का अनुसरण करते हुए *काशिका* में 'माकरनशीलो मस्करी, कर्मापवादित्वात परिव्राजक उच्यते/ स त्व एवम् आह मा कुरूत कर्मानि शांतिर वह श्रेयसी ति' कहा गया है। मस्करी से एक ऐसे परिव्राजक संन्यासी का बोध होता है जो कर्म की स्वतंत्रता को नकारते हुए प्रतिपादित करता है कि व्यक्ति को किसी भी प्रकार के कर्म से उदासीन रहना चाहिए क्योंकि अकर्म में ही बृहत्तर कल्याण निहित होता है। लेकिन इस मुक्त इच्छा या कर्म को नकारने का अर्थ कर्म की सत्ता का खण्डन करना या उसे भाग्य का निर्माता मानने से इनकार करना नहीं था। चूँकि लोकोत्तर जगत् में विश्वास करना कर्म पर ही आधारित था, इसलिए आस्तिकों, नास्तिकों और दैष्टिकों के बीच कर्म ही विमर्श का आधारभूत विषय बना रहा। श्रमणों की सैद्धांतिक पीठिका कर्म के सिद्धांत पर ही निर्भर करती थी। एक तरह से श्रमणों के सिद्धांतों ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व में समाज में एक अभूतपूर्व आलोड़न पैदा कर दिया था।

चूँकि लोकोत्तर जगत् में विश्वास करना कर्म पर ही आधारित था, इसलिए आस्तिकों, नास्तिकों और दैष्टिकों के बीच कर्म ही विमर्शका आधारभूत विषय बना रहा। श्रमणों की सैद्धांतिक पीठिका कर्मन् के सिद्धांत पर ही निर्भर करती थी। एक तरह से श्रमणों के सिद्धांतों ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व में समाज में एक अभूतपूर्व आलोड़न पैदा कर दिया था।

इस वैचारिक मंथन को कई विद्वानों ने लक्षित किया है, परंतु उसके उद्भव और महत्त्व की व्याख्या हर विद्वान् ने अलग ढंग से की है।[3] एक आम धारणा यह रही है कि चिंतन की यह धारा वैदिक धर्म के कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया में उभरी थी। आर. जी. भण्डारकर मानते थे कि पश्चिमोत्तर भारत में यह वैचारिक मंथन जहाँ वेद के विरोध में खड़ा था, वहीं उत्तर-पूर्व में वह नयी प्रवृत्तियों का पुरातन परिपाटी से सामंजस्य बिठाने का प्रयास कर रहा था।[4] इस संदर्भ में जैन और बौद्ध साहित्य जहाँ वेद विरोधी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है, वहीं गीता दूसरी प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है। प्रोफ़ेसर राणाडे और बेलवेलकर इस वैचारिक मंथन का उत्स औपनिषदिक साहित्य में ढूँढ़ते हैं। उनके अनुसार उपनिषदों में ऐसे अनेक चिंतकों का उल्लेख मिलता है जो वेदों की परम्परा स्वीकार नहीं करते थे। मैंने ख़ुद भी यह बात कही थी कि इस निरीश्वरवादी प्रवृत्ति को पूर्ववर्ती काल में भी चिह्नित किया जा सकता है क्योंकि वैदिक साहित्य में भी मुनि और यति का उल्लेख मिलता है। इसके साथ मैंने यह भी कहा था कि इस निरीश्वरवादी प्रवृत्ति का सारतत्त्व कर्म और पुनर्जन्म के अलावा संन्यास तथा योग के सिद्धांतों में भी लक्षित किया जा सकता है। इस

[3] बेलवेलकर तथा राणाडे, *क्रिएटिव पीरिअड इन इण्डियन हिस्ट्री*, ऑटो श्रेडर, *उबेर डेन स्टैंड डर इण्डिशेन फ़िलोसोफ़ी जुर्जेट महावीराज एण्ड बुद्धाज़*, बी.एम. बरुआ, *हिस्ट्री ऑफ़ प्री-बुद्धिस्टिक इण्डियन फ़िलॉसफ़ी*, जी. सी. पाण्डे, *स्टडीज़ इन द ऑरिजिन्स ऑफ़ बुद्धिज़म.*

[4] आर.जी. भण्डारकर, *वैष्णविज़म, शैविजम एण्ड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स.*

संदर्भ में निरीश्वरवादी चिंतन धारा को सम्भवत: सिंधु सभ्यता तक भी खींचा जा सकता है। फ़िलहाल यह बात पूरी तरह अनुमान पर आधारित है, परंतु यदि सिंधु लिपि पढ़ने में सफलता मिल जाती है तो यह सम्भावना पुष्ट भी की जा सकती है। प्रसंगवश, ह्रोंजी और एस. आर. राव ने सिंधु सभ्यता की मोहरों में आर्य भाषा पढ़ने का प्रयास किया था, जबकि पारपोला बंधु मोहरों की भाषा को आद्य-द्रविड़ परम्परा में रख कर देखने का आग्रह कर रहे थे। पारपोला बंधु इस आधार पर सिंधु सभ्यता में एक प्राचीन नक्षत्र आधारित धर्म खोजने की दावेदारी भी कर रहे थे।[5] लेकिन ज़ाहिर है कि इस तरह के तमाम प्रयासों को अनुमानपरक ही कहा जाएगा।

डॉ. एच. एल. जैन ने *भागवत* में आये एक उल्लेख और ऋग्वेदसंहिता[6] के कुछ प्रसंगों को आपस में जोड़ते हुए ऋषभदेव की ऐतिहासिकता सिद्ध करने का प्रयास किया है। भागवत में राज-ऋषि ऋषभ के बारे में कहा गया है कि वे *अवधूत* हो गये थे। इस संदर्भ में *वातरशना:* श्रमण का प्रयोग करते हुए ऋषभ के लिए 'केश भूरि-भार:' के विशेषण का प्रयोग किया है। अब एक बार ऋग्वेदसंहिता के उल्लेख को देखें जिसके केशी सूक्त में 'मुनयो वातरशना:' का प्रयोग किया गया है। डॉ. जैन इस आधार पर यह प्रतिपादित करते हैं कि वेद का यह प्रसंग पहले तीर्थंकर ऋषभ की ओर संकेत करता है। हालाँकि वैदिक साहित्य में मुनि और यति के उद्धरणों का उल्लेख मैंने बहुत पहले किया था इस संदर्भ में *केशी-सूक्त* की भी व्याख्या की थी। परंतु डॉ. जैन का इन उद्धरणों और भागवत के साक्ष्य के बीच संबंध-निरूपण करना थोड़ा महत्त्व ज़रूर रखता है। लेकिन यह भी सम्भव है कि भागवत के इस उल्लेख के पीछे केशी-सूक्त की छवि सक्रिय रही हो। बहरहाल, तर्क की दृष्टि से यह कहना ग़लत नहीं होगा कि श्रमण परम्परा का वैदिक काल में बाक़ायदा स्वतंत्र अस्तित्व था। यह अलग बात है कि उस समय वह एक अल्प-ज्ञात परम्परा थी।

उस पुरातन काल की श्रमण परम्परा के आकार-प्रकार के बारे में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। प्रतीत होता है कि श्रमण या मुनि गृह-त्यागी संन्यासी थे और वैदिक परम्परा के कर्मकाण्डों पर आधारित धर्म में विश्वास नहीं करते थे। वैदिक धर्म सामाजिक दायित्वों और कर्मकाण्डों पर ज़ोर देता था। वह इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों को पर्याप्त महत्त्व देता था और इनके लिए देवताओं से अभ्यर्थना करता था। जीवन-चक्र को अनादि मानने का विचार तथा कर्म का एक ऐसा अकाट्य नियम जिससे केवल तभी मुक्ति सम्भव है जब व्यक्ति जीवन के प्राकृतिक आवेगों से पूरी तरह मुक्त हो जाए— वैदिक चिंतन की प्रारम्भिक अवस्था में एक अज्ञात विचार था। वैदिक काल के मध्य में हमें पुनर्मृत्यु के उल्लेख मिलते तो ज़रूर हैं परंतु वह एक दूसरे संसार की बात जान पड़ती है और यहाँ उससे पुनर्जन्म का बोध नहीं होता।[7] पुनर्मृत्यु के विचार को पुनर्जन्म की पृष्ठभूमि की तरह देखना उचित नहीं होगा। वस्तुत: पुनर्मृत्यु का विचार

श्रमण परम्परा का वैदिक काल में बाक़ायदा स्वतंत्र अस्तित्व था। यह अलग बात है कि उस समय यह एक अल्प-ज्ञात परम्परा थी। उस पुरातन काल की श्रमण परम्परा के आकार-प्रकार के बारे में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। प्रतीत होता है कि श्रमण या मुनि गृह-त्यागी संन्यासी थे और वैदिक परम्परा के कर्मकाण्डों पर आधारित धर्म में विश्वास नहीं करते थे।

---

[5] एस.आर. राव (1973), *लोथल एण्ड इंडस सिवलीजेशन* : 127 और आगे.

[6] एच.एल. जैन, *भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान.*

[7] तुलना के लिए देखें, जी.सी. पाण्डे, *स्टडीज़ इन द ऑरिजिंस ऑफ़ बुद्धिज़्म* : 282.

31_govind_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 401

एक ऐसे संदर्भ में आता है जहाँ कर्मकाण्ड के प्रभाव को कर्म के किसी भी नियम से बंधनमुक्त बताया गया है। उपनिषदों में हम एक बहुत महत्त्वपूर्ण वैचारिक परिवर्तन देखते हैं। वैसे भी पारम्परिक तौर पर यह माना जाता रहा है कि उपनिषदों का लक्ष्य अस्तित्व के चक्र से मुक्ति का रास्ता खोजना रहा है। निस्संदेह ऐसा नहीं है कि उपनिषद् कर्म और पुनर्जन्म के विचार से अपरिचित हैं परंतु उनमें वेदों की सकारात्मक और इहलोक का समर्थन करने वाली पूर्ववर्ती परम्परा से छिटक कर किसी अन्य दिशा में जाने का भाव बहुत प्रबल नहीं है। उपनिषदों में यह विचार तो विद्यमान है कि देवताओं का रूप बदलता रहता है या पुराने देवताओं की जगह नये देवता आ जाते हैं परंतु उनमें कर्मकाण्डों के प्रति अनीश्वरवादी दृष्टिकोण दिखाई नहीं देता। उपनिषद् कर्मकाण्डों की कई बार गूढ़ और दुर्बोध व्याख्या करते हैं, कभी कभी उन्हें ख़ारिज करते भी दिखते हैं। और अक्सर एक नैतिक, चिंतनशील तथा रहस्यवादी जीवन को ज़्यादा महत्त्व देते हुए कर्मकाण्डों की अनदेखी भी करते हैं। इस तरह उपनिषदों का दृष्टिकोण वैदिक परम्परा का ही अगला चरण प्रतीत होता है। इसे श्रमणवादी रुझान की तरफ़ एक अधूरा सा क़दम या बल्कि एक ऐसा बिंदु भी माना जा सकता है जहाँ ब्राह्मण और श्रमण परम्परा के बीच एक अंत:क्रिया भी सम्भव होती दिखती है। और यह सच भी है कि बाद के काल में इस अंत:क्रिया ने बौद्ध धर्म, सांख्य तथा वेदांत के उद्भव और विकास को बेहद गहरायी से प्रभावित किया।

अब एक बार ज़रा श्रमण विचार-सरणि के आदिम उत्स को देखने और उसकी प्रतिध्वनि को सुनने के लिए उपनिषदों के साक्ष्यों का जायज़ा लिया जाए। *छांदोग्य* तथा *बृहदारण्यक* उपनिषदों को सबसे प्राचीन माना जाता है। *छांदोग्य* उपनिषद् की शुरुआत उद्‌गीथ के रहस्य की चर्चा से होती है जिसे प्राण, आदित्य और आकाश का पर्याय माना गया है। उद्‌गीथ की यह प्राप्ति पाप से मुक्ति (पापमन्), कामनाओं को तृप्त तथा एक विराट और उदात्त संसार को सम्भव करती है। दूसरे अध्याय में *सामन्* के गूढ़ चिंतन पर विस्तार से विचार किया गया है, परंतु इसके साथ धर्म के तीन भागों– त्याग, अध्यवसाय तथा उदारता को रेखांकित किया गया है। इसमें त्याग को तपस, अध्ययन को ब्रह्मचर्य और उदारता को गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनमें जहाँ तपस, ब्रह्मचर्य और अमृतत्व श्रमण सिद्धांतों का स्मरण कराते हैं वहीं यहाँ ये शब्द एक भिन्न अर्थ वहन करते प्रतीत होते हैं। यहाँ तपस कठोर साधनाओं के बजाय सर्जनात्मक ऊर्जस्विता की ओर संकेत करता है जबकि ब्रह्मचर्य से गुरु के निर्देशन में वैदिक अध्ययन का बोध होता है। लेकिन यहाँ अमरता का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। पूरे संदर्भ में मृत्यु और पाप की चेतना बार-बार प्रकट होती है, किंतु उससे निस्तार पाने के लिए कर्मकाण्डों की शरण में जाने का प्रयास दिखता है। एक ओर मृत्यु और पाप का बोध तो दूसरी ओर कर्मकाण्डीय ज्ञान के सहारे सांसारिक इच्छा-पूर्ति करने की आश्वस्ति भी दिखाई देती है— 'देवतानाम् सलोकताम् सारस्तिताम् सायुज्म गच्छति सर्वमायुरेति ज्योगजीवति महान् प्रजया पशुमु भवति महान् कीर्त्या'। लेकिन आचार्य शंकर इस अवतरण की एक निराली व्याख्या करते हैं। वे 'प्रथम:' को

ज्ञान अपने कारक से स्वतंत्र होता है। उपासना कल्पना और इच्छा पर टिकी होती है, जबकि ज्ञान कल्पना और इच्छा को विजित करने के बाद पैदा होता है। ब्राह्मण परम्परा में बाहरी कर्मकाण्ड आंतरिक उपासनाकाण्ड में पर्यवसित हो गये, लेकिन ज्ञानकाण्ड के स्तर पर पहुँचने के लिए उन्हें सांसारिक जीवन की सीमाओं का बोध होना अनिवार्य था। दरअसल इसी बिंदु पर ब्राह्मण और श्रमण परम्परा एक दूसरे के पास खड़ी दिखती थी।

31_govind_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 402

'इति' के साथ समाप्त होने वाली गणना, 'द्वितीय:' को तप:, 'तृतीय:' को ब्रह्मचारी आदि के लिए प्रयोग करते हैं। शंकर की दृष्टि से अवतरण को इस तरह पढ़ा जाना चाहिए 'त्रयो धर्मस्कन्धा:/ यज्ञोऽध्ययनम् दानम् इति प्रथम:/ तप एव द्वितीय:/ ब्रह्मचर्याचार्य- कुलवासस तृतीयोत्यन्तम आत्मानम् आचार्यकुलेऽवसादयन/ सर्व एते पुन्यलोक भवन्ति/ ब्रह्मसंष्ठोमृतत्व एति'[8] इस निर्मिति के आधार पर शंकर यह प्रतिपादित करते हैं कि यह अवतरण त्रि-स्तरीय आश्रम धर्म की ओर संकेत करता है तथा इसमें परिव्राजक का उल्लेख बाद में आता है, जो ज्ञान के बल पर संसार से मुक्ति पा लेता है जबकि शेष तीन पुण्य-लोक की प्राप्ति तक ही पहुँचते हैं। इस प्रकार त्याग, अध्ययन तथा उदारता गृह-स्वामी; तपस की कठोर साधना वानप्रस्थ, तथा आजीवन अध्ययन व गुरु के साहचर्य को ब्रह्मचारी के लिए निर्दिष्ट किया गया है। शंकर की इस व्याख्या में तीन आश्रमों और उसके बाद की चौथी अवस्था का उल्लेख किया गया है। इस अवतरण में कर्म के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति तथा ज्ञान व संन्यास के द्वारा मुक्ति के बीच एक अंतर चिह्नित किया गया है।

अगर यह व्याख्या सही है तो फिर हमें यह स्वीकार करना होगा कि उत्तर वैदिक काल तक श्रमण परम्परा का प्रभाव स्थापित हो चुका था और समाज के विचार-लोक में उसकी जगह बन चुकी थी। पर चूँकि आश्रमों का नामकरण तथा चौथे आश्रम की स्थिति शुरुआती दौर के धर्मशास्त्रों में पूरी तरह निश्चित नहीं हो पायी थी, इसलिए यह धारणा कुछ संदेहपूर्ण लगती है। यह तो सच है कि उत्तर-वैदिक काल तक तीन आश्रम अस्तित्व में आ चुके थे। पहले दो आश्रमों की तो समूचे वैदिक धर्म में ही ध्वनि सुनी जा सकती है, जबकि तीसरे आश्रम के बारे में कहा जा सकता है कि वह निश्चय ही बलि संबंधी कर्मकाण्ड के महत्त्व और प्रतीकों का परिणाम रहा होगा। लेकिन आश्रम की चौथी अवस्था को स्वीकार करना किसी क्रांति से कम नहीं था क्योंकि इसने पहले के तीनों आश्रमों के महत्त्व और आधार को भी बदल दिया। स्पष्ट है कि यह संदर्भ केवल उपासना और उसके परिणाम तक ही सीमित है। शंकर *छांदोग्य* की संक्षिप्त प्रस्तावना में उपासना और ज्ञान के बीच अंतर करते हैं। हालाँकि दोनों ही मानसिक अवस्थाएँ (मनोवृत्तिमात्रम्) हैं, परंतु उपासना का अर्थ मन को किसी एक वस्तु पर केंद्रित करना है जबकि ज्ञान का अर्थ मन को द्वैध के मिथ्या भाव से मुक्त करना है। विद्यारण्य इस बात को बड़े सटीक ढंग से कहते हैं, 'वस्तुतन्त्रम् भवेद ज्ञानम कर्तृतान्त्रम उपासनम'[9], यानी उपासना की मानसिक स्थिति एक ऐसी इच्छा से चालित होती है जिसे आंतरिक कर्म कहा जा सकता है। वह ज्ञान से एक अलग चीज़ है जिसकी प्रकृति कुछ खोज लेने या प्रकट होने से जुड़ी होती है। ज्ञान अपने कारक से स्वतंत्र होता है। उपासना कल्पना और इच्छा पर टिकी होती है, जबकि ज्ञान कल्पना और इच्छा को विजित करने के बाद पैदा होता है। ब्राह्मण परम्परा में बाहरी कर्मकाण्ड आंतरिक उपासनाकाण्ड में पर्यवसित हो गये, लेकिन ज्ञानकाण्ड का स्तर छूने के लिए उन्हें सांसारिक जीवन की सीमाओं का बोध होना अनिवार्य था। दरअसल इसी बिंदु पर ब्राह्मण और श्रमण परम्परा एक दूसरे के पास खड़ी दिखती थी।

सामान्यत: ब्राह्मण परम्परा में जीवन के आवेगों या प्रवृत्ति का पुनर्मूल्यांकन जीवन के दुखों तथा मृत्यु की अटलता के आधार पर नहीं किया जाता था। वह इसके लिए यज्ञमूलक पूजा की अवधारणा का विनियोग करती थी। *छांदोग्य* के तीसरे अध्याय में महिदास ऐतरेय तथा घोर

---

[8] इस अवतरण का अनुवाद ह्यूम ने इस प्रकार किया है : कर्तव्य की तीन शाखाएं हैं— त्याग, वेदाध्ययन तथा भिक्षादान— अर्थात् इनमें तपस्या को प्रथम स्थान दिया गया परंतु वस्तुत: उसका स्थान दूसरा है. गुरु के घर में स्थायी रूप से पवित्र ज्ञान की साधने करने वाले विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) का स्थान तीसरा है. इनमें सभी उदात्त संसार के अधिकारी बन जाते हैं. जो ब्रह्म का कठोरता से पालन करता है उसे अमरत्व प्राप्त हो जाता है. (*द थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषद्स*) : 200-201.

[9] *पंचदशी*, 9.74.

आंगिरस का पुरुष-यज्ञ-विद्या एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसमें जीवन को देवताओं के लिए समर्पित एक निरंतर पूजा माना गया है। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो सहज आवेगों तथा अहम-केंद्रित जीवन की प्रकृति में एक गहरे बदलाव का मार्ग प्रशस्त करता है। *भगवद्गीता* में श्रमणों द्वारा जीवन के सम्पूर्ण त्याग के विकल्प का प्रतिपादन एक नये चरण में प्रवेश करता है।

यह बख़ूबी सम्भव है कि श्रमण और ब्राह्मण परम्परा के बीच इस तरह का संश्लेषण स्वयं क्षत्रियों द्वारा ही किया गया हो। इस संदर्भ में यह स्मरण करना प्रासंगिक होगा कि गीता में, जिसके उद्घोष का श्रेय एक क्षत्रिय व्यक्ति को दिया जाता है, राजऋषि-परम्परा की बात की गयी है और इस नाते वह एक तरह के संश्लेषण का प्रतिनिधित्व करती है।

छांदोग्य के चौथे अध्याय में श्रमणों के विचारों और मूल्यों का एक ज़्यादा स्पष्ट चित्रण मिलता है। जानश्रुति और रैक्व की कथा से स्पष्ट पता चलता है कि ब्रह्म का ज्ञान सम्पत्ति से ज़्यादा श्रेष्ठ होता है और जो व्यक्ति इसे प्राप्त कर लेता है वह सांसारिक वस्तुओं की कामना नहीं करता। लेकिन इसके बावजूद हम पाते हैं कि अंततः रैक्व राजा से भेंट स्वीकार कर लेता है और उसकी बेटी को पत्नी के रूप में ग्रहण कर लेता है। यहाँ हम उपकोसल कामलायन को पुनः इस बात पर दुख प्रकट करते देखते हैं कि मनुष्य का जीवन कामनाओं, अतिक्रमण और बीमारियों से इतना त्रस्त रहता है कि उनके सामने मृत्यु भी ज़्यादा भयावह चीज़ नहीं लगती ('बहव इमेऽस्मिन काम नानात्यय व्याधिमिः प्रतिपूर्णोस्मि नाशयिष्यामीति)। कामलायन के गुरु सत्यकाम कहते हैं कि ज्ञानी कभी पाप से ग्रस्त नहीं होता। (यथा पुस्करापलाश आपो न शिलष्यंत एवम् एवमविदि पापन् कर्म न शिलष्यत इति') उल्लेखनीय है कि यहाँ पाप-कर्म को एक ऐसी वस्तु के रूप में कल्पित किया गया है जो पापी के अज्ञान के कारण उससे चिपक जाती है। यह उपमा परवर्ती समय का स्मरण कराती है। इसमें आगे कहा गया है कि देवपथ या ब्रह्मपथ का अनुसरण व्यक्ति को ब्रह्म की ओर ले जाता है। जो इस मार्ग पर चलते हैं वे मानव जीवन की भँवर में दुबारा नहीं लौटते। ('इमाम मानवम आवर्तम नावर्तन्ते नावर्तन्ते')। यहाँ जिसे मानव जीवन के भँवर में लौटना कहा गया है, उससे पुनर्जन्म के सिद्धांत का ही बोध होता है। स्पष्ट है कि यहाँ पुनर्जीवन की संकल्पना तथा ज्ञान आदि के अलावा श्रमण विचारधारा के अधिकांश तत्त्व वेद की पुरानी परम्परा से संगति प्रदर्शित करते दिखाई देते हैं।

पंचाल के शासक बल्कि सही कहा जाय तो पंचाल समिति के मुखिया प्रवाहन जैवालि पुनर्जीवन और पुनरावर्तन के विषय से संबंधित क्षत्रिय विद्या की चर्चा करते हुए उसे उद्दालक और श्वेतकेतु को समझाने का प्रयास करते हैं। मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति दो मार्गों— देवयान और पितृयान में से किसी पर भी जा सकता है। इनमें देवयान का अनुसरण करने से व्यक्ति ब्रह्म-लोक की ओर जाता है तो पितृयान का पालन करने से पितृलोक की तरफ़ जाता है। शंकर के अनुसार ब्रह्मलोक में जाने से मुनष्य को मुक्ति नहीं मिलती। दूसरे जगत् की यात्रा करने के बाद व्यक्ति पुनः इसी जगत् में लौट आता है और अपने कर्मों के अनुसार उच्च या निम्न स्थिति में जन्म धारण कर लेता है। ज्ञानी या वन में कठोर तप करने वाला व्यक्ति देवयान का अनुसरण करता है और अगर व्यक्ति इस संसार में रहते हुए यज्ञ आदि करता है तो वह पितृयान का अनुसरण करता है। अच्छे कर्म (रमणीयाचरणः) करने वाला व्यक्ति ऊपर के तीन वर्णों में जन्म लेता है और बुरे कर्म (कापूयाचरणाः) करने वाले को या तो पशु का जीवन मिलता है या फिर वह चाण्डाल परिवार में जन्म लेता है। अच्छे व्यक्ति के लिए मरणोपरांत जीवन तथा पुनर्जन्म

की इन दो प्रणालियों के अलावा जन्म और मृत्यु के चक्र की एक और प्रणाली भी है जिसमें जीव बिना किसी नैतिक गुणों के कीड़ों और अन्य हीन प्राणियों की तरह जन्म लेता और मरता रहता है।

यहाँ अस्तित्व के चक्र का आचरण की नैतिकता से सीधा संबंध दर्शाया गया है। लेकिन यहाँ इस विचार की व्याख्या यज्ञ की शब्दावली में की गयी है। मनुष्य का जीवन और मृत्यु एक दैवीय यज्ञ के अंग है। मरणोपरांत जीवन का अर्थ देवताओं या पितृों का साहचर्य मिलना हो सकता है, जबकि श्रद्धा और तपस, इष्ट और आपूर्त अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। परंतु यज्ञ के इस प्रतीकवाद का ज्ञान ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पुनर्जन्म के विचार का उदाहरण ब्राह्मणेतर या क्षत्रियेतर परम्परा से लिया गया है और उसे ब्राह्मण विचारधारा और प्रतीकों में ढालने का प्रयास किया गया है। यह बख़ूबी सम्भव है कि श्रमण और ब्राह्मण परम्परा के बीच इस तरह का संश्लेषण स्वयं क्षत्रियों ने ही किया हो। इस संदर्भ में यह स्मरण करना प्रासंगिक होगा कि गीता में, जिसके उद्‌घोष का श्रेय एक क्षत्रिय व्यक्ति को दिया जाता है, राजऋषि-परम्परा की बात की गयी है और इस नाते वह एक तरह के संश्लेषण का प्रतिनिधित्व करती है।[10] यह भी सम्भव है कि उत्तर-पश्चिम या पश्चिम क्षत्रिय मूलत: श्रमण विरासत के ज़्यादा नज़दीक रहे हों जबकि वैदिक धार्मिक परम्परा के केंद्र के निकट रहने वाले प्रवाहन जैवालि या वासुदेव कृष्ण ने संसार के सिद्धांतों कर्मकाण्डों के बीच सामंजस्य स्थापित किया हो।

श्रमण परम्परा अपनी बनावट में बहुलतावादी थी और सामान्यतः आध्यात्मिक और ग़ैर-आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के सिद्धांतों को स्वीकार करती थी। आध्यात्मिक और ग़ैर-आध्यात्मिक का यह द्वैत श्रमणवाद की मूल भित्ति है। और एक अर्थ में सृष्टि की रचना के उस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करती जिसमें प्रकृति को आत्मा की उपज बताया गया है।

जन्म, मृत्यु तथा पुनर्जन्म के संबंध में क्षत्रियों की इस ज्ञान परम्परा के विपरीत दैवीय एकात्म तथा उसकी आध्यात्मिक प्रकृति की ब्राह्मण परम्परा का सार *छांदोग्य* के छठे अध्याय में मिलता है। वेदों में जीवन की उत्पत्ति के अंतिम सिद्धांत की खोज को 'ब्रह्म' का नाम दिया गया और इसके भौतिक पक्ष को अन्न, वायु या आकाश आदि का शीर्षक दिया गया। यह संधान अंतत: उपनिषदों के ऋषियों को प्राकृतिक दर्शन के क्षेत्र से बाहर ले गया। और वे धीरे-धीरे इस बिंदु पर पहुँचे कि मनुष्य के भीतर बसने वाली आत्मा और कुछ नहीं बल्कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सिद्धांत की मूर्त छवि ही होती है। इस प्रकार औपनिषदिक दर्शन का परिपाक एक ऐसे आध्यात्मिक अद्वैतवाद में हुआ जो परम सत्य को एक ही साथ आध्यात्मिक और दैवीय बना देता था और दैवीयता को एक साथ वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक रूप प्रदान करता था। यहाँ से देखें तो यह पूर्व-वैदिक दर्शन से चली आ रही एक सीधी रेखा की तरह दिखाई देता है। लेकिन इस पाठ में जीव शब्द के उल्लेख पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि परवर्ती काल में यह शब्द आत्मा के लिए एक सामान्य प्रयोग बन गया। इतना ही नहीं यहाँ हमें अनश्वर आत्मा और नश्वर देह के बीच एक विरोधाभास भी साफ़ दिखाई देता है। इसमें संज्ञाओं और रूपों के ग़ैर-आध्यात्मिक जगत् को क्षणभंगुर प्रकृति का भी बताया गया है।

हालाँकि *छांदोग्य* के सातवें अध्याय में

[10] 10, 4 2.

उपनिषदों का वह प्रारूपिक दृष्टिकोण ही अग्रसर होता दिखाई देता है जिसमें परम आनंद को निस्सीम के लिए उपलब्ध बताया गया है (यो वै भूमा तत सुखम् नाल्पे सुखम् अस्ति) परंतु यह खण्ड ब्रह्म-जिज्ञासा को पहली बार जीवन के दुखों से जोड़कर देखता है। नारद घोषणा करते हैं कि वे जिस पीड़ा से ग्रस्त हैं उसका समाधान आत्म-ज्ञान में ढूँढने का प्रयास कर रहे हैं : 'श्रीमान्, मैं पवित्र सूक्तियों से तो परिचित हूँ परंतु आत्मा को नहीं पहचानता। मैंने आप जैसे गुरुओं के मुख से यह सब सुना है; जो यह जानते हैं कि आत्मा दुखों पर विजय पा लेती है। मैं ऐसे ही दुखों से घिरा हूँ। श्रीमान्, मुझे दुख से पार उतरने में सहायता करें'। रिस डेविड्स ने इसमें यह अंतर लक्षित किया था कि अधिक का संधान और केवल बुराई से मुक्ति की खोज दो अलग अलग चीज़ें हैं।[11] हालाँकि उपनिषदों को उनकी सम्पूर्णता में देखें तो उनके बारे में यह बात सटीक बैठती है और इसे सामान्यत: वैदिक चिंतन पर लागू किया जा सकता है लेकिन उपनिषदों में कई स्थानों पर वस्तु जगत् के प्रति हताशा का भाव भी प्रकट होता है जो एक तरह से श्रमणों की दृष्टि का स्मरण कराता है। वास्तव में इस खण्ड में ज़ोर देकर कहा गया है कि जो मर्त्य है वह सीमित होता है, और सामान्य धारणा के विपरीत, पशु और संपदा, पत्नी और दास, खेत और घर-बार, सब केवल सीमित चीज़ें हैं। और उन्हें आत्मा की निस्सीमता तथा स्वनिर्भरता के बरअक्स रखकर देखा गया है। यहाँ पुन: एक प्राचीन पद उद्धृत किया गया है जिसमें दुखता शब्द का अभूतपूर्व उल्लेख मिलता है। (दुखता न पश्यो मृत्युम् पश्यति/ न रोगम नो तु दु:खताम्) इसमें ग्रंथी तथा कषाय जैसे शब्दों का उल्लेख प्रारम्भिक काल के बौद्ध तथा जैन साहित्य में विशेष महत्त्व रखता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मद्वैत के मूल सिद्धांत का तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक भाव श्रमणों से भिन्न है, परंतु इस अवस्था में दोनों के बीच एक स्पष्ट सम्पर्क देखा जा सकता है। यह ठीक है कि इसे एक स्वतंत्र समांतरता और पूर्वज्ञान भी माना जा सकता है परंतु अगर संदर्भ की सम्पूर्णता पर ध्यान दिया जाए तो इससे यह परिकल्पना पुष्ट होती नज़र नहीं आती। आत्माद्वैत एक ऐसा भाव है जिसे हम वैदिक बहुदेववाद के प्रारम्भिक काल से शुरू होकर शनै: शनै: एकदेववाद में पर्यवसित होते और आंतरिक सत्य के साथ एकमेक होते देख सकते हैं। लेकिन चाहे जो माना जाए, श्रमण परम्परा अपनी बनावट में बहुलतावादी थी और सामान्यत: आध्यात्मिक और ग़ैर-आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के सिद्धांतों को स्वीकार करती थी। आध्यात्मिक और ग़ैर-आध्यात्मिक का यह द्वैतवाद श्रमणवाद की मूल भित्ति है। और एक अर्थ में सृष्टि की रचना के उस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करती जिसमें प्रकृति को आत्मा की उपज बताया गया है।

छांदोग्य के आठवें अध्याय में वास्तविक और मिथ्या कामनाओं में अंतर करते हुए कहा गया है कि आत्म-ज्ञान व्यक्ति को सम्पूर्ण संतुष्टि प्रदान कर देता है। इस कथन में यह पूर्वनिहित है कि मिथ्या कामनाओं का त्याग कर देने के बाद ही वास्तविक कामनाओं की पूर्ति की जा सकती है। यहाँ कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत पूरी तरह स्वीकार करते हुए कहा गया है कि जिस तरह कर्म द्वारा उपलब्ध जगत् अनित्य है वैसे ही प्रतिभा या योग्यता से प्राप्त संसार भी नश्वर है— तद् यथा कर्मजितो लोक: क्षीयत एवमेवामुत्रपुण्यजितो लोक: क्षीयते । परंतु यहाँ इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि यहाँ अंतिम लक्ष्य को कामनाहीनता के अर्थ में संकल्पित नहीं किया गया है। इसके उलट, यहाँ यह कहा गया है कि ज्ञानी व्यक्ति की इच्छा मात्र ही उसे वांछित लक्ष्य प्रदान कर देती है। यह निष्काम होने की नहीं बल्कि सत्यकाम या सत्यसंकल्प होने की स्थिति है। इस प्रकार यहाँ

[11] रिस डेविड्स, *बुद्धिज़्म* (एचयूएल), उपनिषद का उपर्युक्त अवतरण ह्यूम के अनुवाद में संदर्भित है.

31_govind_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 406

भी श्रमण और वैदिक परम्परा के बीच अंतर और निकटता— दोनों के दर्शन होते हैं।

इन दो धाराओं की निकटता और स्वतंत्रता का सबसे अच्छा उदाहरण *बृहदारण्यक* में उल्लिखित याज्ञवल्क्य के प्रसंग में मिलता है। प्रसंग यह है कि याज्ञवल्क्य गृह-त्याग (उद्यास्यन) करने वाले हैं, परंतु यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वे संन्यासी बनकर वन की ओर जाना चाहते हैं या एक परिव्राजक भिक्षु का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। लेकिन पुरातन मूल्यों की तुलना में याज्ञवल्क्य असंदिग्ध भाव से यह घोषणा करते हैं कि अनश्वरता की कामना सम्पदा की कामना से एक निपट अलग बात है (अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन)। यह आध्यात्मिक और लौकिक जीवन के भेदों का एक नया रूप है। आध्यात्मिक जीवन व्यक्ति को एक ऐसी दिशा में ले जाता है जहाँ चेतना का द्वैत पूरी तरह समाप्त हो जाता है। मनश्चेतना देह के साथ अतीत हो जाती है परंतु एक विराट चेतना (महाभूतम्) शेष रह जाती है— 'स यथा सैन्धवखिल्यौदके प्रास्त उदकम एवानुविलीयेत न हास्योदग्रहणायैव स्याद यतो यतस त्वाददीत लवणम एवैवम अर इदम महाभूताम अनन्तम अपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य: सम्युत्थाय तानयेवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्य:'— 'यह जल में डाली गयी नमक की डली है। घुलने के बाद इसे अलग नहीं किया जा सकता। उसे पुन: प्राप्त करने के प्रयास में नमक ही हाथ लगता है। विराट चेतना का स्वभाव भी कुछ ऐसा ही है। वह अनंत है। उसका कोई तट नहीं होता। चेतना का पिण्ड इन भौतिक तत्त्वों से ही उत्पन्न होता है और उनके पश्चात् नष्ट हो जाता है। मृत्यु के बाद कोई चेतना नहीं रह जाती। याज्ञवल्क्य का कथन यही था।' स्पष्ट है कि यहाँ विज्ञानघन तथा संज्ञा के अंत को विराट चेतना की शाश्वतता के समानान्तर रखकर देखा गया है। लेकिन शंकर विज्ञानघन का अभिप्राय यह लगाते हैं कि वह महाभूतम् का सहवर्ती होता है। ह्यूम शंकर के अर्थ को स्वीकरते हैं और इस उद्धरण का अनुवाद इस तरह करते हैं: 'वह जैसे जल में घुली नमक की डली जैसा है; इसे अलग नहीं किया जा सकता परंतु इसे कहीं भी ले जाएँ तो इसका स्वाद नमकीन ही रहेगा। इसी तरह यह अनंत, निस्सीम, विराट चेतना (भूत) केवल ज्ञान की एक राशि है जो इन तत्त्वों (भूत) से उत्पन्न होती है और मनुष्य उसी में विलीन हो जाता है। मृत्यु के बाद कोई चेतना नहीं रह जाती'। शंकर चेतना या संज्ञा को विशेष संज्ञा कि 'मैं अमुक हूँ'— अहमसावमुस्य पुत्रो मामेदम क्षेत्रम धनम सुखी दु:खीत्येवम आदि लक्षण । यहाँ इस बात का ख़याल रखा जाना चाहिए कि बौद्ध साहित्य में इन दोनों पदों- विज्ञान तथा संज्ञा का प्रयोग किया गया है, किंतु वहाँ संज्ञा का प्रयोग अवधारणात्मक चेतना यथा वस्तुओं के गुण इंगित करने यथा 'नीला' या 'पीला'[12] ज्ञापित करने के विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। विज्ञान का प्रयोग समझ के अलावा सामान्य चेतना के लिए भी किया गया

अगर कोई जानता नहीं है तो ऐसा वह जान-बूझ कर करता है, क्योंकि कर्ता का ज्ञान क्षणभंगुर होने के कारण विलीन नहीं हो जाता। चूँकि उसके जैसा कोई अन्य नहीं होता इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह कुछ और जान लेगा। समस्त चेतना लुप्त नहीं होती क्योंकि वह शाश्वत होती है, इसलिए जो चीज़ विलीन होती है वह केवल द्वैत की चेतना होती है। विज्ञानवादी भी यही मानते हैं कि ग्राह्य-ग्राहक-भाव के ज्ञानातीत हो जाने पर विज्ञान के प्रवाह की जगह विज्ञप्तिमात्रता ग्रहण कर लेती है।

[12] तुलना के लिए देखें , *सुत्तनिपात,* परमाथ्थक सुत्त 5 , जिसमें सञ्ञा को पकप्पिता कहा गया है; तुलना के लिए देखें, श्तेरबैत्स्की, *सेंट्रल कन्सेप्शन ऑफ़ बुद्धिज़्म* : 18

31_govind_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 407

है। बौद्ध साहित्य में विज्ञान का अंतरण होता है[13] और शुद्धीकरण के बाद उसे ही निस्सीम और तेजोमय (अनन्तम सब्बतोपभम) बताया गया है।[14]

यह व्याख्या अरस्तू के मनश्चेतना के सिद्धांत तथा सक्रिय तर्क की अनश्वरता के सिद्धांत की तरह है। इसमें अगर कोई फ़र्क़ है तो ये कि यहाँ सामान्य व्यक्ति की मृत्यु की बात नहीं की जा रही बल्कि एक ज्ञानवान् व्यक्ति की मृत्यु का प्रसंग है। यहाँ हमें मुक्ति की लोकोत्तर प्रकृति की सबसे पहली अभिव्यक्ति दिखाई देती है। मन के जीवन तथा द्वैतवादी चेतना की धाराएँ तो नष्ट हो जाती हैं किंतु परम सत्ता की शाश्वतता में विषय या विषयी का कोई अंतर नहीं होता। इसका परिणाम यह होता है कि हम ज्ञान या चेतना के बारे में सामान्य अर्थों में बात नहीं कर सकते। यह एक ऐसा विलक्षण विवरण है जिसमें बौद्ध दर्शन में विहित, ख़ास तौर पर विज्ञानवादियों द्वारा निरूपित निर्वाण की अवधारणा आकार लेती दिखाई देती है। उपनिषद् के उद्धरण में कहा गया है— यत्र हि द्वैतम इति भवति तद इतर इतरम जिघ्रति पश्यति अभिवदति मनुते विज्ञाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत केन कम जिघ्रेत केन कं विज्ञानीयात / येनेदम सर्वम विज्ञानाति तम केन विज्ञानीयाद विज्ञातारमरे केन विज्ञानीयादिति / अर्थात् द्वैत की स्थिति में व्यक्ति दूसरे का बोध कर सकता है या उसे जान सकता है। लेकिन एक ऐसी स्थिति में जहाँ सब कुछ आत्म बन गया हो तो वहाँ कौन किसका बोध करेगा— 'यद्धैतन न विजानाति विज्ञानन वै तान न विज्ञानाति न हि विज्ञातुर विज्ञातेर विपरिलोपो विद्यतेविनाशित्वान न तु तद द्वितीयम अस्ति ततोन्याद् विभक्तम यद विज्ञानीयात'। अर्थात् अगर कोई जानता नहीं है तो ऐसा वह जान-बूझ कर करता है, क्योंकि कर्ता का ज्ञान क्षणभंगुर होने के कारण विलीन नहीं हो जाता। चूँकि उसके जैसा कोई अन्य नहीं होता इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह कुछ और जान लेगा। समस्त चेतना लुप्त नहीं होती क्योंकि वह शाश्वत होती है, इसलिए जो चीज़ विलीन होती है वह केवल द्वैत की चेतना होती है। विज्ञानवादी भी यही मानते हैं कि ग्राह्य-ग्राहक-भाव के ज्ञानातीत हो जाने पर विज्ञान के प्रवाह की जगह विज्ञप्तिमात्रता[15] ग्रहण कर लेती है। यद्यपि प्रारम्भिक बौद्ध विज्ञान की भिन्नताओं तथा उसकी विशिष्टताओं पर ज़ोर देते थे, परंतु बौद्ध धर्म में उपनिषदों के प्रभाव स्वरूप उसे परम मानने की प्रवृत्ति भी जारी रही जिसका आगे चलकर विज्ञानवाद के सम्प्रदाय पर गहरा असर पड़ा।

जनक के यहाँ आयोजित गोष्ठी में जारत्कारव आर्तभाग याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं: मृत्यु के पश्चात् मनुष्य के साथ क्या होता है— 'क्वायम तद पुरुषो भवतीति'। इसका उत्तर देने के लिए याज्ञवल्क्य प्रश्नकर्ता को एक ओर ले गये। कहा जाता है कि दोनों ने कर्म पर चर्चा की— 'कर्म हैव तदूचातुरथ यत प्रशशमस्तुः पुन्यो ह वै पुन्येन कर्मणा भवति पापः पापेन'। अर्थात् 'उन्होंने कर्म की चर्चा की और उसी की प्रशस्ति की। व्यक्ति अच्छे कर्म से अच्छा हो जाता है और बुरे कर्म से पापमय हो जाता है'। जैसा कि कहा जा चुका है, इस वर्णन से यह संकेत मिलता है कि ब्राह्मण चिंतक कर्म के सिद्धांत से पूरी तरह अपरिचित तो नहीं थे, किंतु जनक की सभा में एकत्रित कुरु-पांचाल क्षेत्र के ब्राह्मणों को इस सिद्धांत के बारे में कुछ ख़ास पता नहीं था। यह बात इस तथ्य से पुष्ट होती है कि शास्त्रार्थ के अंत में याज्ञवल्क्य एकत्रित लोगों से यह पूछते हैं कि मृत्यु के बाद मनुष्य का जन्म पुनः किस शाखा से होता है— 'यदवीक्षो वृक्णो रोहति मूलान्

---

[13] सती के अपधर्म के लिए देखें, मज्झिम (रोमन संस्करण), 1 : 256 और आगे.

[14] मज्झिम, 1: 329 विञ्ञाणानिदस्सनमनन्तम सब्बतो पभं.

[15] वज्रयान के लिए देखें, *स्टडीज़ इन द ऑरिजिंस ऑफ़ बुद्धिज़्म* : 494–95, एफ़एन 244, तुलना के लिए देखें, तत्र ग्राहकचित्ताभावाद ग्राह्यार्थनुपलम्माच च अचित्तोनुपालम्मोसौ ध्रुवो नित्यवाद अक्षय्यतया सुखो नित्यवाद एवं
त्रिंशिका, VV, 29–30, अचित्तोनुपलम्मोसौ ज्ञानम्लोकोत्तराझच तत/ आश्रयस्य परावृत्तिर द्वेधा दौस्थुल्यानितः// स एवानास्त्रवो धातुर अचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः/ सुखो विमुक्तिकायोअसु धर्माकायोयानि महामुनेः//

31_govind_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 408

नवतर: पुन:/ मर्त्य: स्विन मृत्युना वृक्ण: कस्मान मूलात प्रारोहति'। अर्थात् 'काटे जाने के बाद वृक्ष अपनी जड़ों से पुन: उग आता है। मनुष्य की जब मृत्यु हो जाती है तो उसका जन्म किस मूल से होता है।' इसमें यह निहित है कि वहाँ बैठे लोग सामान्यत: कर्म के सिद्धांत से परिचित नहीं थे वरना यह एक बेहद सरल प्रश्न था।

इसके बाद याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद होता है जिसमें जनक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं कि विमोक्ष का मार्ग क्या है— विमोक्ष-सोहम् भगवते सहस्त्रम् ददाम्यत ऊर्ध्वम विमोक्षयायैव ब्रूहीति। । याज्ञवल्क्य उसे एक ऐसी गहरी निद्रा बताते हैं जो जागरण और स्वप्न से परे होती है— एवमेवायम पुरुष एतास्मा अन्तय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामम् कामयते न कंचन स्वप्नम् पश्यति। 'इस अवस्था में व्यक्ति सोया हुआ होता है। उसे कोई इच्छा नहीं रह जाती और न वह स्वप्न देखता है। गहरी निद्रा में मनुष्य हर पाप और भय से मुक्त हो जाता है और एक ऐसे नैसर्गिक आनंद को अनुभव करता है जो किसी बाहरी वस्तु पर निर्भर नहीं करता—' 'अपहतपाप्माभयम् रूपम् तद्यथा प्रियया स्त्रिया समपरिस्वाक्तो न बाह्यम किञ्चन वेद नान्तरम् तद्धा अस्यैतदाप्तकाम्मताकाम्कामम।' जैसे पत्नी के आलिंगन में बद्ध व्यक्ति को किसी भी अन्य बाहरी या भीतरी भाव का बोध नहीं रह जाता, वैसे ही यह व्यक्ति का वास्तविक रूप है जिसमें उसकी समस्त कामनाएँ तृप्त हो जाती हैं; जिसमें वह बस अपनी कामना करता है। इस अवस्था में न उसकी कोई कामना शेष रह जाती है और न कोई दुख:। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति समस्त सामाजिक और नैतिक वर्णन-विशेलणों तथा दुख से परे चला जाता है। 'अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोकाऽलोका देवाऽदेवा वेद अवेदा अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूनहाऽभ्रूनहा चाण्डालोऽचाण्डाल: पौल्कशोऽ-पौल्कश: श्रमणोऽश्रमण: तापसोऽतापसो न्वागतम पुण्येन अनत्वागतम पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान शोकान हृदयस्य भवति' / 'इस अवस्था में पिता पिता नहीं रह जाता और माँ माँ नहीं रह जाती। संसार संसार नहीं, देवता देवता नहीं, वेद वेद नहीं, चोर चोर नहीं रह जाता। वहाँ भ्रूण का संहारक भ्रूण का संहारक नहीं रह जाता। (यहाँ स्मरण किया जा सकता है कि एक बार बुद्ध पर भ्रूनाह: होने का आरोप लगाया गया था।) । चण्डाल चण्डाल नहीं, पौलकस् पौलकस् नहीं, भिक्षुक भिक्षुक नहीं तथा संन्यासी संन्यासी नहीं रह जाता। वह न अच्छाई से बँधा रह जाता है और न बुराई से क्योंकि इस अवस्था में वह हृदय के समस्त दुखों का अतिक्रमण कर जाता है।' यहाँ पौलकस्, चाण्डाल तथा तापस के साथ श्रमण का उल्लेख एक दिलचस्प बात है। इस अवस्था को द्वैतवादी चेतना से भिन्न एक अनश्वर आत्म-ज्ञान बताया गया है। इसलिए उसे आनंद की चरम अवस्था कहा गया है— 'एशोस्य परम आनन्द एतस्यैवानान्दस्य अन्याम भूताम् मात्रामुपजीवन्ति'। यहाँ इस बात का अलग से उल्लेख किया जाना चाहिए कि आनंद की यह अवस्था किसी भी अन्य अवस्था से उच्चतर है और इस प्राप्त करने के लिए श्रमण और तापस स्वयं से परे चले जाते हैं।

मृत्यु की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्रस्थान के क्षण में व्यक्ति के कर्म, चरित्र और कार्य उसके साथ जाते हैं— 'तम विद्याकर्मणि समन्वार्भेते पूर्व प्रज्ञा च'। जिस तरह इल्ली घास के एक तिनके से दूसरे तिनके की ओर सरकती रहती है वैसे ही आत्मा एक देह से दूसरी देह की ओर गमन करता जाता है— 'तद्यथा तृणजलायुकातृणास्यान्तम गत्वान्यम आक्रमम आक्रमयात्मानम उपासंहरत्य एवम एवायं आत्मेदम शरीरम म्हात्य अविद्याम गमयीत्वाऽयम् आकीर्मम आक्रम्यात्मान्म उपसंहरति।' 'जैसे सुनार स्वर्ण के पुराने आभूषण से नया आभूषण गढ़ लेता है वैसे ही आत्मा एक नयी देह धारण कर लेता है जिसमें देह की गुणवत्ता व्यक्ति के कर्माधारित गुणों पर निर्भर करती है'। 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर भवति पापकारी पापो भवति पुन्य: पुन्येन कर्मणा भवति पाप: पापेन'। 'जो जैसा कर्म और आचरण करता है वह उसी तरह

31_govind_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 409

का बन जाता है। अच्छे कर्म करने वाला अच्छा बनता है और बुरे कर्म करने वाला बुरा हो जाता है। सत्कर्म करने वाला सत्कर्मी हो जाता है'। यहाँ न केवल देहांतरण के तथ्यों तथा कर्म के सिद्धांत को स्पष्ट किया गया है बल्कि कर्म के नियम के पीछे सक्रिय मनोवैज्ञानिक और नैतिक सिद्धांतों का भी उद्‌घाटन किया गया है। कामना से इच्छा पैदा होती है और इच्छा से कर्म पैदा होता है जो आगे चलकर आत्मा के लिए परिणाम निर्धारित करता है। 'अथा खल्वाहु: काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर भवति यत्क्रतुर भवति तत्क्रम कुरूते यत्क्रम कुरूते तदभिसम्पद्यते'। ह्यूम इसका अनुवाद कुछ इस तरह करते हैं— 'लोग कहते हैं व्यक्ति केवल कामनाओं (इसके प्रत्युत्तर में मैं कहता हूँ) से बना (कर्मों से नहीं) होता है। जैसी उसकी कामना होती है वैसा ही उसका संकल्प होता है, जैसा उसका संकल्प होता है वैसा ही वह कर्म करता है। वह जो कर्म करता है वहीं उसकी प्राप्ति हो जाती है'। यहाँ पहले वाक्य को एक तरह से पूर्वपक्ष बनाया गया है जिसका आगामी वाक्य में खण्डन कर दिया गया है। यह बात उचित प्रतीत नहीं होती। जैसा कि शंकर शुरुआती शब्दों की ओर इंगित करते हैं— 'काममय एवायं पुरुष:'। वस्तु के मूल में जाओ। संसार का स्रोत कामना है। इसके अभाव में कर्म भी बंधनकारी नहीं होता 'कामप्रहाने तु कर्म विद्यमानमपि पुण्यापुण्योपचावकरम न भवति'। यह बौद्धों का एक प्रारूपिक सिद्धांत है। इसे प्रतीत्यसमुत्पाद की लगभग एक सरल व्याख्या भी कहा जा सकता है जिसका *सुत्तनिपात* जैसे पूर्ववर्ती ग्रंथों में पहले भी उल्लेख आया है। यह एक दिलचस्प बात है कि यहाँ याज्ञवल्क्य चिंतकों के एक समूह के मत का उद्धरण देते दिखाई पड़ते हैं। याज्ञवल्क्य की यह भंगिमा बाद में आने वाले एक पद्यात्मक उद्धरण से दृढ़ होती दिखती है— 'तद् एष श्लोको भवति/ तद एव शक्त: कर्मणौति लिंगम मनो यत्र निस्कतम अस्य/ प्राप्यान्तम कर्मनस तस्य यत्किञ्चेह कारोत्वयम/ तस्माल्लोकात पुनर एत्यास्मै लोकाय कर्मना इति/'। ह्यूम इसका अनुवाद यों करते हैं— 'व्यक्ति का मन जहाँ लगा होता है उसका अंतरतम कर्म में प्रवेश कर जाता है। उसका यह एकनिष्ठ लगाव उसके कर्म का अंत बन जाता है। वह संसार में जो कुछ भी करता है वह उसे बार बार इसी संसार में लौटने के लिए विवश करता है।' यहाँ लिंग अथवा सूक्ष्म देह का उद्धरण बेहद उल्लेखनीय है। क्या यह मत सांख्य परम्परा याज्ञवल्क्य जन्म-मरण के चक्र से आत्मा की मुक्ति के लिए अकामना (अथ अकाम्यमान:) का उल्लेख करते हैं। वास्तविक प्रकृति कर्म के क्षेत्र का अतिक्रमण कर जाती है। 'न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कनीयान'।'वह न सम्यक् कर्म में डूबता है, न बुरे बुरे कर्म में'। इस उक्ति में लगभग एक विरोधाभासी ध्वनि सुनायी देती है जिससे पुराण कस्सप का स्मरण हो आता है। याज्ञवल्क्य आगे कहते हैं कि ब्राह्मण, मुनि तथा परिव्राजक- सभी इसी लक्ष्य का संधान करते हैं। ब्राह्मण इसे वेदों के वाचन, यज्ञ तथा उदार चिंतन के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। कठोर साधनाओं तथा लंघन के द्वारा कोई मुनि बन जाता है— 'तम एतम वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिसन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेनैताम एव विदित्वा मुनु भवति'। यहाँ इस तथ्य पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि शंकर अनाशकेन के बाद वाक्य समाप्त कर देते हैं और इस तरह ज्ञान को केवल मुनि के लिए आरक्षित कर देते हैं। परिव्राजक इसी ज्ञान के लिए गृह-त्याग करते हैं। प्राचीन ऋषियों (पूर्व विद्वान) ने इसी के लिए संतान, सम्पत्ति और यश का मोह त्याग कर भिक्षावृत्ति (भिक्षाचर्यम) का मार्ग चुन लिया— 'एताम एव प्रवरजिनो लोकम इच्छंता: प्रव्रजंति एतद्धा स्म वै तत्पूर्वे विद्वांस: प्रजाम न कामयंते किम प्रजया करिस्यामो येषां नोऽयाम आत्माऽयाम लोक इति ते हस्म पुत्रैषणायाश च वित्तैषणायाश च लोकैणायाश च व्युत्थायाथ भिक्षाचार्यम चर्यन्ति याहि एव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा उभे हि एते एषणं एव भवत:'।'इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए परिव्राजक अपना घर छोड़ देते हैं। पूवर्जों

31_govind_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 410

ने इस तथ्य को जानते हुए कभी संतान की कामना नहीं की।' 'जिन्होंने इस आत्मा को अपना घर बना लिया है वे संतान का क्या करेंगे। यही सोचकर उन्होंने संतान, सम्पदा और प्रसिद्धि की कामना त्याग दी और भिक्षावृत्ति अपना ली। संतान, सम्पत्ति और संसार की कामना सब एक समान हैं।'

स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य श्रमणों और उनकी परम्परा से भली भाँति परिचित हैं। वे ब्राह्मणों की वैदिक रीति तथा मुनि-परिव्राजकों के मार्ग में स्पष्ट अंतर करते हैं और जानते हैं कि वैदिक रीति में सामाजिक और आनुष्ठानिक कर्तव्यों के प्रति स्वीकार्यता का भाव है जबकि मुनि-परिव्राजक कर्म के प्रभावस्वरूप बार-बार होने वाली मृत्यु को देखते हुए ऐसी रीतियों को अस्वीकार करते हैं। इसके बावजूद याज्ञवल्क्य मुक्ति के उस सिद्धांत में आस्था व्यक्त करते हैं जिसमें दैवीय आत्म तथा पाप और गुणों से असंपृक्त सृष्टि के एकल विधाता और कर्ता के ज्ञान पर बल दिया गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार पाप और सद्‌गुण द्वैतवाद के क्षेत्र में आते हैं। याज्ञवल्क्य स्पष्ट रूप से आस्तिक हैं और अपने दर्शन को श्रमणों के दर्शन से अलग सिद्ध करते हैं, परंतु उन्हें श्रमणों के सिद्धांतों की जानकारी है।

मात्रिक उपनिषदों में, जिन्हें परवर्ती काल का माना जाता है, संसार के सिद्धांत का उल्लेख ज़्यादा स्पष्ट ढंग से किया गया है। *कठोपनिषद्* में यह प्रश्न उठाया गया है कि मृत्यु के बाद क्या शेष रह जाता है। इस बारे में जब कोई प्रश्न उठाया जाता था तो उसका उत्तर कर्मकाण्ड की शब्दावली में दिया जाता था। कहा जाता था कि अगर मृत्यु के उपरांत व्यक्ति आनंदपूर्ण जीवन अर्थात् अपने पितृों या देवों की संगत में जाना चाहता है तो उसे यज्ञादि समुचित रीति से करने चाहिए। कठोपनिषद का पूर्ववर्ती भाग भी, जिसमें पहले अध्याय की तीन वल्ली शामिल हैं तथा जिसका अंत फलश्रुति के साथ होता है, मरणोपरांत जीवन की पुरानी धारणा से मुक्त नहीं है। इसमें नचिकेताग्नि यज्ञ को जीवनपर्यंत स्वर्ग में वास करने का माध्यम बताया गया है। अधोलोक के अधिष्ठाता यम स्वयं कहते हैं कि उन्होंने कर्मकाण्डों का पालन करके ही मृत्यु पर विजय पायी है— ततो मया नचिकेतश चितोग्निर अनित्यैर द्रव्यैव: प्राप्तवान् अस्मि नित्यम। अनश्वर को नश्वर के द्वारा प्राप्त करने की बात करने वाला यह कथन श्रमण परम्परा की दृष्टि से असंगत जान पड़ता है। यहाँ इस तथ्य का स्मरण किया जा सकता है कि यम एक ऐसे प्राचीन देवता हैं जिन्हें पितृलोक का अधिष्ठाता माना जाता है। इसलिए यह बात अनुचित नहीं लगती कि वे यहाँ मरणोपरांत जीवन के बारे में स्पष्टीकरण दे रहे हैं। लेकिन यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत उपनिषद् में इंद्रियों के नश्वर और पतनशील सुखों तथा मनुष्य के वास्तविक कल्याण के बीच स्पष्ट अंतर किया गया है। अनित्य तथा नित्य, अध्रुव तथा ध्रुव, प्रेयस तथा श्रेयस, और बाल तथा धीर के इस भेद को बाद में चलकर श्रमण काव्य में अत्यंत महत्त्व दिया गया। यहाँ मनुष्य के अंतिम प्रारब्ध तथा संसार के बीच स्पष्ट ढंग से भेद-निरूपण किया गया है। सच तो यह है संसार का पहली बार उल्लेख यहीं किया गया है- न स तत्पदम आप्नोति संसारराञचाधिगच्छति / 'वह उक्त अवस्था प्राप्त नहीं करता, उसे संसार प्राप्त होता है' इस संदर्भ में अस्तित्व का पदानुक्रम उल्लिखित किया गया है— इंद्रियेभ्य: परा हि अर्था अर्थेभ्यस च परम् मन:। ये वस्तुएँ इंद्रियों से परे हैं; मन पदार्थों से परे आदि उक्तियों को विद्वानों ने सांख्य से जोड़ कर देखने का प्रयास किया है। लेकिन यहाँ इस बात को याद रखा जाना चाहिए कि सांख्य में इंद्रियों को पदार्थों से परे बताया गया है। इसलिए *गीता* में हमें यह कथन मिलता है- इंद्रियानि प्राणि आहु:। परंतु यह बात इस धारणा पर आधारित है कि सांख्य की उत्पत्ति उपनिषदों से हुई है। यह धारणा भी एक ऐसी धारणा है जिसके अंतर्गत परवर्ती श्रमण संप्रदायों को भी उपनिषदों से उत्पन्न बताया गया है। सच यह है सांख्य की शास्त्रेतर प्रकृति को वेदांतसूत्रों की एक प्रसिद्ध सूक्ति— इक्षतेनाशब्दम

में स्पष्ट मान्यता दी गयी है। 'प्रधान प्रकृति संसार की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकती क्योंकि शास्त्रों में संसार का कारण चेतना को बताया गया है'। यहाँ संख्य प्रधान को शास्त्रेतर या 'अशब्दम्' कहा गया है। वेदों में ब्रह्माण्ड को पुरुषवाद से जोड़ कर देखा गया है। उसका मूल एक चेतन सत्कारणवाद माना गया है, जबकि सांख्य एक प्रधानवाद है, जिसे भौतिक या प्राकृतिक रूपांतरण का सिद्धांत कहा जाता है। वैदिक परम्परा जीवन के प्रति एक सकारात्मक और आशावादी रवैया रखती है— विश्वम् इदम् वरिष्ठम् (मुण्डक) 'यह समस्त संसार में सर्वोत्तम है'। कामास्याप्तिम् जगत्: प्रतिष्ठाम। 'कामनाओं की संतुष्टि और संसार की स्वीकृति।(कठ) आनंदं ब्राह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन। 'ब्रह्म के आनंद से परिचित होने के बाद मैं किसी भी प्रकार के भय से ग्रस्त नहीं हूँ'। इसके विपरीत, सांख्य में संतोष के परम सुख को भी दुख का अंग बताया गया है और दुख के अंत और मुक्ति की बात की गयी है (*व्यास-भाष्य* में जरगिसव्य का उद्धरण)। इन तथ्यों को देखते हुए सांख्य के उद्‌गम को ब्राह्मण परम्परा के बजाय श्रमण परम्परा में रखना ज़्यादा उचित होगा। इसलिए प्रस्तुत संदर्भ को सांख्य का पूर्वानुमान मानने के बजाय उसके प्रभाव के रूप में देखा जाना चाहिए। यह बात *श्वेताश्वेतर* उपनिषद् के अनेक स्थानों पर भी लागू होती हैं जहाँ सांख्य की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। श्वेताश्वेतर में सांख्य की आदि-सांख्य अथवा निरीश्वर वादी व्याख्या के बजाय एक आस्तिक व्याख्या मिलती है जिसमें सांख्य में निर्दिष्ट प्रकृति को ईश्वर द्वारा नियंत्रित सत्ता कहा गया है। इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि *श्वेताश्वेतर* तथा *कठ* दोनों उपनिषदों में परम आत्मा का प्रतिपादन किया गया है और उसे ब्रह्माण्ड का नियंता व समस्त आकांक्षाओं का लक्ष्य बताया गया है। यह दृष्टिकोण सांख्य के बुनियादी सिद्धांत के साथ संगति प्रदर्शित नहीं करता क्योंकि सांख्य में कई अलग अलग आत्माओं का उल्लेख किया गया है जो प्रतिकूल प्रकृति से मुक्ति पाने को प्रयत्नशील रहती हैं।

कठ के दूसरे अध्याय में मुनि का प्रत्यक्ष उल्लेख तथा मनुष्य के बंधन और उससे मुक्ति पाने की प्रक्रिया का स्पष्ट वर्णन किया गया है— योनिम् अन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः स्थाणुम अन्येऽनुशामयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्। 'कुछ आत्माएँ गर्भ में रूप धारण करती हैं, कुछ अन्य अपने कर्मों तथा ज्ञान के अनुसार पादप-जीवन प्राप्त करती हैं'। अनश्वरता की स्थिति तब प्राप्त होती है जब मनुष्य आंतरिक आत्म को ग्रहण करने लगता है और अपने हृदय को सभी प्रकार की कामनाओं से मुक्त कर लेता है— 'तम् आत्मस्थं येनुपश्यन्ति धीरास तेषां सुखं शाश्वतम् नेतरेषाम', 'केवल ऐसे ज्ञानी व्यक्ति ही शाश्वत सुख को प्राप्त कर पाते हैं जो उसका अपनी आत्मा में दर्शन करते हैं, अन्य को वह उपलब्ध नहीं होता'। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य ह्दि स्थिता:/ अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते'। 'जब व्यक्ति के हृदय में समस्त कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, तब नश्वर व्यक्ति अमर हो जाता है और ब्रह्म को उपलब्ध हो जाता है। इस पद में जीवनमुक्ति या अर्हत्तव की सम्भावना की ओर भी इंगित किया गया है। यहाँ काम के तदनुरूपी शब्द ग्रंथी का भी उल्लेख मिलता है। यह बात संदेह से परे हैं कि कठ का दूसरा भाग उस काल में रचा गया था जब श्रमणवाद एक सर्वांग सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित हो चला था और उसके कुछ बुनियादी सूत्र ब्राह्मण परम्परा में अंगीकृत होने लगे थे।

इस अंगीकरण का सर्वोच्च बिंदु *मुण्डक* में लक्षित किया जा सकता है, जो कि एक ऐसा उपनिषद् हैं जिसका नाम ही श्रमणों की ओर इंगित करता है। प्रथम मुण्डक के दूसरे खण्ड में ब्रह्मलोक को प्राप्त करने के लिए पुराने कर्मकाण्डीय सूत्रों का उल्लेख किया गया है— 'एष वह पंथाः सुकृतस्य लोके', 'तुम्हारे लिए साधुता की डगर यही है'। लेकिन इसमें यज्ञों की 'क्षीण नाव' कहकर निंदा की गयी है (प्लवा हि एते अदृढ़ा) और यह घोषणा की गयी है कि जो मनुष्य कामनाओं से प्रेरित होकर

(रागात्तेनातुरा:) कर्मकाण्डों का आश्रय लेते हैं या दान-धर्म के मार्ग पर चलते हैं, वे जन्म-मरण के चक्र में फँसे रहते हैं। इस प्रकार वे जिस स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, वह एक अस्थायी आराम होता है। यहाँ हम वैदिक कर्मकाण्ड की संसार के सिद्धांत के आधार पर पहली बार स्पष्ट निंदा होते हुए देखते हैं। संसार के सिद्धांत में इच्छाओं और कर्म के संसार को देहांतरण के संसार का सह-विस्तार माना गया है। कालक्रम की दृष्टि से यह उपनिषद् अपेक्षाकृत नया है। यह बात इस तथ्य से ज़ाहिर होती है कि इसमें *छांदोग्य* से एक अवतरण लिया गया है, जो स्पष्टत: कहता है— तप: श्रद्धेये हि उपवसन्ति अरण्ये शान्ता विदांसो भैक्षचर्याम् चरन्त:। 'वनों में शांति, त्याग, आस्था तथा भिक्षावृत्ति का जीवन जीने वाले ज्ञानी पुरुष्' ध्यात्वय है कि *छांदोग्य* में जहाँ केवल एकांतवासी का उल्लेख मिलता है वहीं यहाँ भिक्षावृत्ति अर्थात् भैक्षचर्या का पहली बार उद्धरण प्राप्त होता है। इस उपनिषद् में हमें एक बार फिर मुक्ति की प्रकृति और उसकी प्रक्रिया की एक स्पष्ट छवि मिलती है। अज्ञानता का विनाश संदेहों और संचित कर्मों को भी नष्ट करता है (भिद्यते हृदयग्रन्थि चिद्न्ते सर्वसंशय:/ क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे) 'उस निस्सीम को देखने से हृदय का अवगुण्ठन खुल जाता है तथा संदेह और पिछले सभी कर्म मिट जाते हैं'। स्पष्ट है कि यहाँ हृदयग्रंथि को अविद्याग्रंथि के समानांतर रखा गया है। और उससे यह इंगित होता है कि यहाँ अज्ञानता का अर्थ केवल बौद्धिक नहीं बल्कि लोकोत्तर भी है। यहाँ योगसूत्र का स्मरण करना उपयुक्त होगा जिसमें अविद्या जैसे सूक्ष्म क्लेशों को ध्यान या भावना का प्रयोग करके ही दूर किया जा सकता है। तीसरे मुण्डक में यतियों को आंतरिक बुराई (क्षीणदोष:) का त्याग करने वाला, सत्य बोलने वाला, तप और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला तथा सही ज्ञान(सम्यक् ज्ञान) की खोज करने वाला कहा गया है। इसमें पुन: यतियों का उल्लेख किया गया है और उनके बारे में कहा गया है कि वे संन्यास का संकल्प धारण करते हैं और इस प्रकार शुद्ध (संन्यास-योगात्यतय: शुद्धसत्व:) हो जाते हैं। परंतु यतियों को वेदों के विज्ञान में पारंगत बताया गया है (वेदांता-विज्ञानसुनिश्चितितार्थ:) यहाँ मुक्ति या विमुक्ति का विवरण बौद्ध ग्रंथ सुत्तनिपात के एक पद का निकटवर्ती प्रतीत होता है। (यथा नद्य: स्यन्दमाना: समुद्रे अस्तम गच्छन्ति नामरूपे विहाय/ तथा विदान् नामरूपाद विमुक्त: परात परं पुरुषं उपैति दिव्यम्)। जैसे नदियाँ समुद्र से मिलकर अपना नाम और रूप खो देती हैं, वैसे ही जो व्यक्ति अपने नाम और रूप से मुक्त हो जाता है, वह उस दैवीय सत्ता को प्राप्त कर लेता है जो उच्चतम से उच्चतर है। इसकी तुलना उपशिव-मानवपुच्छा के इस पद से की जा सकती है— 'अच्ची यथा वातवेगेन खित्तो अत्तथम पलेति न उपेति संखम/ एवम् मुनि नामकाया विमुत्तो अत्तथम पलेति न उपेति संखम', 'जैसे वायु के झोंके से दीपशिखा बुझ जाती है और उसे पुन: प्रज्वलित नहीं किया जा सकता, उसी तरह नाम और देह से मुक्त मुनि को पुन: संसार में नहीं लाया जा सकता'। यहाँ हमें शांतिपर्वन् के दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण पदों पर भी ध्यान देना चाहिए— 'यथार्नवगता नद्यो व्यक्तिर जहति नाम च/ नदाश च तानि यच्छन्ति तादृश: सत्त्वसमक्षय:/ एवम् सति कुत: संज्ञा प्रेत्याभावे पुनर भवेत/ जीव च प्रतिसंयुक्ते गृह्यमाने च सर्वत:।' *महाभारत* से लिए गये ये दो पद न केवल बृहदारण्यक के पूर्वोक्त अवतरण को स्पष्ट करते हैं बल्कि उपनिषदों और बौद्ध अवतरणों में निहित मुक्ति के विवरण को दार्शनिक भाषा में भी प्रस्तुत करते हैं।

अंत में, *मुण्डक* में कहा गया है कि इस ब्रह्मविद्या की शिक्षा केवल ऐसे व्यक्तियों को दी जानी चाहिए जिन्होंने प्रधान संकल्प का विधिवत् पालन किया है (शिरोवृतम विधिवाद यस्तु चीर्णम्)। शंकर शिरोवृतम् की व्याख्या इस प्रकार करते हैं— 'शिरस्य अग्निधारानाम् यथा अथर्वनानाम् वेदवृतम् प्रसिद्धम्'। यहाँ सिर पर अग्नि धारण करने का अर्थ स्पष्ट नहीं है। क्या इसका अर्थ सिर मूँड़वा कर मुण्डक बनना है।

गीता की भाँति *ईषोपनिषद्* में भी कर्म,

कर्मकाण्ड तथा नीति के पारम्परिक वैदिक दर्शन तथा श्रमण परम्परा में प्रतिपादित त्याग के सिद्धांत एक दूसरे के विरोध में खड़े दिखाई देते हैं। इसमें कहा गया है कि यदि कर्म समर्पण की भावना से किया जाए और उसमें ईश्वर की उपस्थिति रहे तो कर्म बंधनकारी नहीं होता। इसलिए कर्म का त्याग नहीं किया जाना चाहिए। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि, जिजिविशेच छतं समा:/', 'मनुष्य को सौ वर्ष जीना चाहिए और उसका हर पल कर्म से पूर्ण होना चाहिए। ऐसा करने से कर्म आत्मा से नहीं चिपकता'— 'न कर्म लिप्यते नरे'। जो व्यक्ति कर्म का परित्याग करके, यहाँ तक कि जीवन की बलि चढ़ाने की सीमा तक पहुँच जाते हैं, उन्हें आत्मघात का भागी माना जाना चाहिए। ऐसे लोग एक अंतहीन अंधकारपूर्ण संसार में जन्म लेते हैं। 'असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता:/ तंस ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना:'। शंकर आत्महनो जना: की व्याख्या प्राकृता अद्विांसो जना: के रूप में करते हैं। परंतु इससे पहले आत्महना: होने का जो उद्धरण दिया गया था, उसे शाब्दिक अर्थ में भी लिया जा सकता है। इस प्रसंग में स्वर्गीय पण्डित के. चट्टोपाध्याय का अनुसरण करते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उक्त उद्धरण जैन धर्म की उस रीति की ओर इंगित करता है जिसमें जीवन के उत्सर्ग को तपस का प्रचण्ड रूप कहा गया है।

उपनिषदों में इस प्रकार के उद्धरण उसके सम्पूर्ण चिंतन से अलग-थलग दिखाई पड़ते हैं। अगर हम इस तथ्य को ध्यान में रखेंगे तो उनके महत्त्व का उचित मूल्यांकन कर पाएँगे। यह सत्य है कि कठ तथा मुण्डक जैसे उपनिषदों में देहांतरण के सिद्धांत, कर्म तथा त्याग की ध्वनि सुनाई पड़ती है और साथ ही उनमें परवर्ती वेदांत का वह शुरुआती संस्करण भी प्राप्त होता है जिसमें ब्रह्मात्मवाद, संसारवाद और संन्यास का उल्लेख किया गया है। इसे ज्ञान का सिद्धांत कहा गया है जो मनुष्य को, प्रवृत्ति तथा देहांतरण से बँधे कर्म के विपरीत निवृत्ति की ओर ले जाता है। परंतु इसके आधार पर हम यह धारणा नहीं बना सकते कि समष्टिगत रूप से उपनिषद् संसार के सिद्धांत से परिचित हैं तथा वे, जैसा कि शंकराचार्य भगवदगीता के अपने भाष्य के प्राक्कथन में इंगित करते हैं, एक प्रकार के निवृत्तिलक्षण-धर्म का समर्थन करते हैं। शंकराचार्य ने कहा है, 'दिविधो हि वेदोक्तो धर्म: प्रवृत्तिलक्षणो नृवृत्तिलक्षण्श्च'। उपनिषदों में अंतस्थ सिद्धांत कहता है कि ब्रह्माण्ड दैवीय सत्ता और ऊर्जा का प्रतीक है। पिछले काल के अनेक देवता निस्संदेह उस एक परम सत्ता में संपुंजित हो गये है जिसे आत्म कहा गया है। लेकिन इसका परिणाम यह हुआ है कि ब्रह्माण्ड को एक आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाने लगा जिसमें अगर मनुष्य यह जान ले कि प्रत्येक सीमित वस्तु अन्य कुछ नहीं बल्कि ब्रह्म की एक सीमित अभिव्यक्ति होती है और अंतत: एक विराट संगति का अंग बन जाती है। यहाँ सृष्टि और अभिव्यक्ति को भ्रम नहीं यथार्थ कहा गया है। यह सही है कि यहीं दूसरी तरफ़ कुछ ऐसे उद्धरण भी मिलते हैं जिनमें द्वैत का विरोध या नाम और रूप को अयथार्थ बताया गया है। परंतु उपनिषदों के अवतरणों की वेदांतसूत्रीय व्याख्या उन्हें यथार्थ मानती है और वही उचित प्रतीत होती है। ब्रह्म को जन्माद्यस्य यत: के रूप में परिभाषित करना और उसकी औपाधिक लक्षण की तरह व्याख्या करना एक महती उपलब्धि है। द्वैतवाद और परिमिति एक असीम और अखण्ड यथार्थ की वास्तविक तथा सीमित प्रतीति होते हैं। उन्हें अज्ञान के प्रभाव के कारण आरम्भहीन भ्रम नहीं कहा जा सकता। इस तरह का दृष्टिकोण उचित रीति से जिये गये सांसारिक जीवन को मनुष्य के प्रारब्ध का पहला चरण मानता है। कर्म अगर कर्मकाण्ड बनकर रह जाए तो वह मनुष्य के लिए पर्याप्त नहीं होता परंतु उसे अंतर्निहित बुराई भी नहीं कहा जा सकता। निस्संदेह नैतिक कर्म निपट बौद्धिक ज्ञान से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होता है 'नाविरतो दुश्चरितान्नाश्ंतो नासमाहित:/ नाशन्तमानसोवापि प्रजाज्ञानेनैनाम आप्नुयात/'। 'अगर व्यक्ति बुरे कर्म को नहीं छोड़ता तो वह कोरी बौद्धिकता के बल पर इस भावना को प्राप्त

नहीं कर सकता'। आत्मज्ञान चारों ओर सुख की सृष्टि करता है। आत्म की यह खोज वास्तव में दुख की सार्वभौमिक उपस्थिति के बोध से पैदा नहीं होती बल्कि उसका जन्म उस मानसिक सत्य के संधान से होता है जो वस्तुओं की परम प्रकृति को समझने का प्रयत्न करता है। आधुनिक काल में टैगोर तथा अरविंद ने उपनिषदों के मुख्य सिद्धांत को इसी रूप में ग्रहण किया है। यहाँ तक कि तृबौत तो ब्रह्मसूत्रों पर रामानुज की टीका को शंकर की टीका से ज़्यादा सटीक मानते हैं।

इस प्रकार उपनिषदों में विकसित वैदिक चिंतन की मुख्य धारा जीवन के प्रति एक सकारात्मक, सक्रिय और दृढ़ रवैया प्रदर्शित करती है। वह जीवन को अयथार्थ नहीं बताती और न उसे बुरायी कहकर निरस्त करती है। इसके बजाय वह इस तथ्य की पुष्टि करती है कि हम जो बाहर देखते हैं उसके पीछे एक ऐसा उच्चतर यथार्थ होता है जो मानवीय जीवन और उद्यम को परम मूल्य की तरह देखता है। इस संदर्भ में उपनिषदों में यदा-कदा श्रमण परम्परा का प्रभाव दिखाई देता है जो कठ तथा मुण्डक जैसे उपनिषदों में निरंतर बढ़ता जाता है। परवर्ती काल में वेदांत का विकास श्रमणों के नकारवाद और वेदों की सकारात्मकता के संश्लेषण द्वारा संपन्न हुआ। उल्लेखनीय है कि शंकर जब इस दिशा में आगे बढ़े तो इसके पीछे बौद्धों द्वारा प्रतिपादित परिवर्तन की प्रकृति का अनुलंघ्य तर्क ही सक्रिय था। अगर परिवर्तन यथार्थ है तो फिर शाश्वत की कल्पना असम्भव है। अगर संसार की रचना ब्रह्मा करता है तो फिर उसे परिवर्तनशील और नश्वर माना जाएगा। ऐसे में एक तार्किक विकल्प यही बचता है कि सृष्टि के यथार्थ को अस्वीकार कर दिया जाए। किंतु जैसे ही इस बात को मान लिया जाता है वैसे ही जीवन मूल्यहीन हो जाता है और मनुष्य को एक गहरा निराशावाद घेर लेता है। मनुष्य के जीवन का दुख आवेगों और कर्मों, जन्म तथा मृत्यु के बंधनों से पैदा होता है— श्रमणों के दर्शनशास्त्र का प्रस्थान-बिंदु यही है। यह दर्शन जीवन को दैवीय स्तर पर ले जाने का प्रयत्न नहीं करता। वह जीवन को किसी तरह की पूर्णता की ओर ले जाने के बजाय उससे परे जाने; आत्मा की 'हमारे दुख के प्रभाव-क्षेत्र से दूर' अपने गृह में वापसी की बात करता है।

संदर्भ

आर. जी. भण्डारकर , *वैष्णविज़म, शैविजम एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स.*

आर. डेविड्स, *बुद्धिज़म.*

ओ. श्रेडर (1902), *उबेर डेन स्टैंड डर इण्डिशेन फ़िलोसोफ़ी जुर्जेट महावीराज एण्ड बुद्धाज़.*

एच.एल. जैन (1962), *भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान,* भोपाल.

एस. आर. राव, *लोथल ऐंड इंडस सिवलाइज़ेशन.*

काशिका, 6 खण्ड , वाराणसी, 1965.

पंचदशी (बम्बई).

जी. सी. पाण्डे, *स्टडीज़ इन द ऑरिजिंस ऑफ़ बुद्धिज़्म,* द्वितीय संस्करण, नयी दिल्ली.

द थर्टीन प्रिंसिपल ऑफ़ उपनिषद्स (अनु. ह्यूम).

बी. एम. बरुआ, *प्री-बुद्धिस्टिक इण्डियन फ़िलॉसफ़ी,* मोतीलाल बनारसी दास (पुनर्मुद्रित).

बेलवलकर तथ राणाडे, *क्रिएट्रिव पीरिअड ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री.*

महाभारत, (चित्रशाला प्रेस, पूना).

मझिम्मनिकाय, (नालंदा संस्करण).

श्तेबैत्स्की, *सेंट्रल कंसेप्शन ऑफ़ बुद्धिज़म.*

सुत्तनिपात, (नालंदा संस्करण).

साभार :

गोविंद चंद्र पाण्डे (1978), *श्रमण ट्रेडिशन : इट्स हिस्ट्री ऐंड कॉन्ट्रीब्यूशन टू इण्डियन कल्चर,* एल.डी. इंस्टीट्यूट ऑफ़ इंडोलॅजी, अहमदाबाद.

31_govind_Layout 1 5/7/2014 3:21 PM Page 415